सामाजिक असमानता के कारण स्त्रियां अधिक मरती हैं

सुहास कुमार

जबलपुर से दिल्ली आते-जाते मैं और मेरे पति अक्सर ग्वालियर में पति की चाची के यहां रुकते हैं। उनकी इकलौती बहू को मैंने सारे-सारे दिन रसोई में काम करते ही देखा। एक साधारण मध्यमवर्गीय परिवार होते हुए भी उनके यहां जैसी खातिरदारी कम ही घरों में मिलती है। किसकी कीमत पर ? बहू के ब्याह को लगभग 10-12 वर्ष हो गए हैं। उसके दो बच्चे हैं। मेरे पति कह रहे थे कि ऐसी स्थिति में उसे टी. बी. नहीं हुई या वह जिंदा है, आश्चर्य की बात है।

इस बार मैंने सोचा कि बहू को कुछ अच्छा उपहार दूंगी। मन में कीमती साड़ी, अच्छी घड़ी या ऐसी कोई चीज़ देने की सोचती रही। फिर विचारा कि उसी से क्यों न पूछ लूं। न जाने मन के किस कोने में वह क्या इच्छा दबाए है।

अकेले पाकर मैंने उससे पूछा कि वह क्या पसंद करेगी ? उसका जवाब सुन मैं हैरान रह गई। कुछ क्षण तो वह चुप रही। फिर दबी जुबान से बोली—"आप मुझे के लिए तिपहिया साइकिल ला दीजिए। उसने बहुत दिनों से रट लगा रखी है।"

उसका जवाब मुझे कई दिनों तक उद्वेलित करता रहा। मैंने अपने मन के अंदर झांक कर देखा तो लगा कि बहुत मानी में हम सब मांओं का यही नज़रिया रहता है। ब्याह के बाद हम अपना अस्तित्व, अपनी इच्छाएं, अपने अरमान इस हद तक भुला देते हैं कि यह भी भूल जाते हैं कि हमें क्या अच्छा लगता है। यह बात भोजन से लेकर जीवन में हर चीज़ और हर आयाम पर लागू होती है।

हीनता के संस्कार

यह हमारी सामाजिक संस्कृति और परंपराओं की देन है। लड़की को यही शिक्षा दी जाती है कि उसे ससुराल जाना है, घर के काम-काज में निपुण होना है और उसे परिस्थितियों के साथ समझौता करना है। उसे सहने की आदत होनी चाहिए। उसे दुःख, कष्ट, अभावों का अनिवार्य अंग मानकर जीना आना चाहिए। दूसरे शब्दों में उसे बताया जाता है कि उसे कर्मप्रधान और सहनशील ज़िंदगी बितानी है। परिस्थितियों को बदलने की बजाए उनसे समझौता करना आना चाहिए।

हांगकांग में हुई एक महिला संगोष्ठी में सुश्री मारकुलीन ने कहा—"तर्कबुद्धि, अपनी बात पर डटे रहना, दृढ़ इच्छाशक्ति और साहस ऐसे गुण हैं जो ज़िंदगी से जूझने के लिए ज़रूरी हैं।" पर ऐसे समाज में जिसमें इन गुणों का पुरुषों में होना ज़रूरी समझा जाता है, स्त्रियों को खुलकर सामने न आने देना ही ठीक माना जाता है। हालांकि ये सब गुण स्वस्थ व्यक्तित्व के निर्माण के लिए ज़रूरी हैं, चाहे पुरुष हो या स्त्री।

अपनी इच्छाओं को पहचानकर उन्हें पूरा करने में कितना संतोष मिलता है, इसे हम में से बिरले ही जानती हैं। शंघाई (चीन) में एक स्त्री संगठन ने 210 परिवारों का (जहां स्त्रियां घर के बाहर काम कर चुकी हैं या कर रही हैं) सर्वे किया। उन्होंने पाया कि केवल 8 फी सदी औरतें ही घर में बच्चों की देखभाल के लिए रहना चाहती हैं। 82 फी सदी घर से बाहर नौकरी करना चाहती हैं।

यह पूछने पर कि यदि पति की आय घर चलाने के लिए काफी है क्या तब भी वे नौकरी करना चाहेंगी ? 80 फी सदी स्त्रियों का उत्तर 'हां' था। वे रोजगार और स्वाधीनता का आपसी संबंध समझती हैं।

कामकाजी औरतों को उनके हक मिल जाएं, यह जरूरी नहीं है। शांति पांच घरों में झाड़ू, पोंछा, बर्तन, कपड़े धोने आदि के काम करती है। सुबह 7 बजे से शाम के 5-6 बजे तक वह खटती है। बीच में 1 से 3 के बीच घर जाती है तो घर की सफाई व रोटी बनाने में लग जाती है। फिर भी पति से जब तब मार खाती रहती है कि वह पूरा पैसा पति के हाथ में नहीं रखती, कमाकर अपने मायके भेज देती है। पति की कमाई ज्यादातर नशेपानी में जाती है। कई बार उसे लगता है कि उसकी जिंदगी नर्क बन गई, पर वह पति का साथ नहीं छोड़ सकती।

बीमारी में भी उपेक्षा

बीमार सीमा के पति से यह पूछने पर कि वह उसे डाक्टर को क्यों नहीं दिखाता, जवाब मिलता है—"यह आप लोगों की तरह नहीं है, हट्टी-कट्टी है। अपने आप ठीक हो जाएगी। यह तो ढोर-डंगर की तरह है।"

मेरे कहने पर कि तुम्हारी औरत इतना काम करती है, उसे बराबरी का हक मिलना चाहिए। वह कहता है—"जाने दीजिए हक को। कमाते हम हैं, घर हमारा है। इसे बैठे-बैठे रोटी मिल जाती है, यह क्या कम है ?" यह तब है जबकि सीमा सुबह दूध दुहती है, गोबर इकट्ठा कर कंडे पाथती है, फिर घर की सफाई, खाना बनाना आदि सब काम करती है। सात महीने की एक बच्ची है, जिस पर सारा दिन मक्खियां भिनभिनाती रहती हैं। उसकी ठीक देखभाल के लिए उसे समय नहीं मिल पाता।

सफाई कर्मचारी जमादारिनें काफी कमा लेती हैं। कच्ची को 900 रु० और पक्की को 1,200 रु० महीने मिल जाता है। यह पूछने पर कि उनके पति उन्हें काफी मानते होंगे, सभी हंसकर कह उठती हैं—"मानते नहीं, मारते हैं। कहते हैं तुम्हें कमाने की क्या जरूरत है, घर बैठो और खाओ। पर हम अपने बूते पर जीती हैं। यह अलग बात है कि डांट या मार खा कर भी हम चुप रहती हैं।"

घर का सब काम तो उन्हें करना ही पड़ता है, पर वे अपनी लड़कियों को स्कूल भेज रही हैं। कहीं कुछ बदल जरूर रहा है।

सपने मर गए

गरीब स्त्रियां दुहरी सामाजिक असमानता की शिकार हैं। परिवार में सबसे बाद में बचा-खुचा खाना लेना, थकावट या बीमारी में भी काम करते रहना, डाक्टरी मदद न मिलना और अपना मन मार कर रखना जिंदगी जीना नहीं जिंदगी का बोझ ढोना है। एक दार्शनिक ने कहा है—"सबसे खतरनाक बात है इंसान के सपनों का मर जाना।" चाची की बहू की तरह हमने अनेक पीड़ित और हताश बहुएं देखी हैं। पढ़ी-लिखी वे अपने पैरों पर खड़ी हो सकती हैं, पर संस्कारवश गुलामी का जीवन बिताने को मजबूर हैं।

स्त्रियां भी दोषी

स्त्रियां भी इस बात के लिए दोषी हैं। ऐसा हम भी मानती हैं, पर यह इसलिए कि उन पर पुरुषों का और पुरुषों के नियमों का दबाव रहता है। बहुत सी मांएं बेटों द्वारा अपनी उम्मीदें पूरी करना चाहती हैं। किसी ने कहा है—भारतीय समाज में पत्नी के गुलाम पति नहीं, मां के गुलाम बेटे जरूर होते हैं। मांएं बेटों को दबाकर रखना चाहती हैं ताकि उन पर उनका अधिकार व्याह के बाद भी बना रहे।

इस स्थिति में औरतों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर क्या असर होता है ? आंकड़े बताते हैं हैं कि संसार में हर चार घंटे में 250 स्त्रियां प्रजनन संबंधी कारणों से मर जाती हैं। विकासशील देशों में यह दर और ज्यादा है। यह केवल स्वास्थ्य सेवाओं की कमी के कारण नहीं है। मुख्य कारण सामाजिक

और आर्थिक हैं। पौष्टिक आहार या पूरा आहार न मिलने और काम का बोझ ज्यादा होने से पहले से ही कमजोर शरीर गर्भ के प्राणी का बोझ उठाने में असमर्थ होता है और जवाब दे जाता है।

कम उम्र में (20 साल से कम) या बड़ी उम्र में (35 वर्ष से अधिक) बच्चे पैदा होना, जल्दी-जल्दी बच्चे पैदा होना, गर्भपात, खून की कमी आदि कारण सामाजिक हैं। स्त्रियों की स्थिति प्रसूति व नवजात शिशुओं की ऊंची मृत्यु-दर में सबसे ज्यादा उजागर होती है।

अब तक 90 फी सदी गर्भ-निरोधक स्त्रियों के इस्तेमाल के लिए हैं। क्या जनसंख्या की वृद्धि के लिए औरतें ही जिम्मदार हैं ? पुरुषों के प्रजनन-चक्र की प्रक्रिया काफी सरल है, इसलिए तर्कबुद्धि से सोचा जाए तो परिवार नियोजन के साधन उनके लिए भी कम से कम 50 फी सदी तो बनाए ही जा सकते हैं। स्त्रियों से ज्यादा पुरुषों को परिवार नियोजन की शिक्षा की जरूरत है। बच्चे हों या न हों, अधिकतर निर्णय उन्हीं का होता है।

हर श्रेणी की औरत जानती है कि बार-बार बच्चा होने से खतरा है। वह यह भी जानती है कि परिवार के लिए पुरुष वंशज पैदा करना भी उसका फर्ज है। वह उसे अपना सहारा भी समझती है।

शिक्षा की जरूरत

विश्व के अनेक देशों और स्वयं भारत में केरल की मिसाल से हम समझ सकती हैं कि जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार और उत्पादन के साधनों का बेहतर वितरण हुआ है और जन-जीवन सुधरा है, वहां जनसंख्या की दर में कमी शुरू हो गई है। जनसंख्या के बढ़ने से गरीबी नहीं बढ़ती, बल्कि गरीबी के कारण जनसंख्या बढ़ती है।

स्त्रियों को अनपढ़, गंवार और नासमझ समझा जाता है। कितने पुरुष जानते हैं कि 40 साल की उम्र में जो उनका स्वास्थ्य या उनकी बुद्धि है वह इस समय के खानपान या परिस्थितियों के कारण नहीं बल्कि उनकी जीवन-यात्रा मां के गर्भ से शुरू होती है। उनके शारीरिक व मानसिक विकास की सीमा काफी हद तक तभी निर्धारित हो चुकी होती है।

1972 में भारतीय मनोवैज्ञानिक मिर्ज़ा साजिद अली खान ने बताया कि हमारे जीवन की सफलताओं और असफलताओं के पीछे काफी कुछ वही हालात हैं, जो हमें मां के पेट में मिले। गर्भस्थ-शिशु को जितना प्यार-दुलार मिलेगा वह उतना ही प्यार-दुलार बांटेगा।

अब तो पश्चिम के मनोवैज्ञानिक भी मानते हैं कि गर्भावस्था के दौरान मां की मानसिक स्थिति का बच्चे पर सीधा असर पड़ता है। मिर्जा खान का कहना है कि गुनगुने तेल से पेट की दिन में दो बार हल्की मालिश की जाए तो भ्रूण गर्भाशय में दुलार की गर्मी महसूस करेगा। ममतामयी देखभाल से बच्चे को सही संस्कार दिए जा सकते हैं।

भारत में हालत यह है कि हर एक प्रसूति-मृत्यु के पीछे 18 स्त्रियां ऐसी हैं जो मरने से तो बच जाती हैं, पर सदा के लिए उन्हें कुछ न कुछ रोग लग जाता है। गांवों और पिछड़े इलाकों में स्वास्थ्य केंद्र या अस्पताल दूर होने के कारण अनेक मौतें हो जाती हैं। कौलंबिया, चिली, युगांडा, क्यूबा और मलावी आदि देशों में प्रसूति प्रतीक्षागृह खोले गए हैं जिनका खर्च अस्पताल से बहुत कम होता है। यदि समाज के लोग थोड़ा श्रमदान करें तो बहुत सी जच्चाओं को मरने से बचाया जा सकता है। छूत से हुई मौतों को सफाई रखकर बचाया जा सकता है। जच्चा की गर्भावस्था के समय ठीक देखभाल, उचित भोजन, टिटेनस का टीका आदि से अनेक मौतें रोकी जा सकती हैं।

इन सबसे बढ़कर स्त्रियों को स्वयं अपना महत्व समझना होगा, अपने जीने के अधिकार समझकर अपने हक मांगने होंगे तभी उनका जीवन सुधरेगा।□